

संभवतः इस बात का पता लगाने की कोशिश में कुछ समय देना श्रेयस्कर होगा कि क्या जीवन की कोई सार्थकता है भी। वह जीवन नहीं जो हम जी रहे हैं, क्योंकि आधुनिक अस्तित्व की सार्थकता तो न के बराबर है। हम जीवन को बौद्धिक अर्थवत्ता दे देते हैं, इसे हम सैद्धांतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक या (यदि आप इस शब्द का प्रयोग उचित समझें) रहस्यवादी अर्थ दे दिया करते हैं; इसमें गहरे मायने तलाशने का प्रयास करते हैं--जैसा कि कुछ लेखकों ने इस निराशाजनक अस्तित्व से संन्नस्त होकर किया है, किसी जीवंत, गहन, बुद्धिगत कारण का आविष्कार कर लिया है। और मुझे लगता है कि यह बात बहुत ही सार्थक होगी यदि हम भावनात्मक या बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक, तथ्यपरक ढंग से स्वयं ही यह पता लगाएं कि क्या जीवन में ऐसा कुछ है जो वस्तुतः पावन है? मन के आविष्कार नहीं, जिन्होंने जीवन को पवित्रता की एक भावना दे रखी है, अपितु क्या वास्तव में ऐसा कुछ है? क्योंकि इस खोज में हम ऐतिहासिक रूप से और वस्तुस्थिति में भी अपने द्वारा बिताए जा रहे जीवन को देखते हैं--व्यापार, प्रतिस्पर्धा, हताशा, अकेलापन, दुश्चिंता एवं युद्ध में होने वाला विनाश तथा घृणा--इस तरह के जीवन का बहुत कम अर्थ है। हो सकता है हम सत्तर वर्ष जी लें, जिनमें से हमारे चालीस या पचास वर्ष किसी कार्यालय में एक से नित्यक्रम, ऊब और अकेलेपन में बीत जाएं, जिनका कुछ खास मतलब नहीं है। इस बात का एहसास होने पर पूर्वी विश्व में और यहां भी हम एक प्रतीक, एक धारणा, एक ईश्वर को अर्थवत्ता और औचित्य दे देते हैं--जो स्पष्टतः मन के ही आविष्कार हैं। पूर्व में उन्होंने कहा है कि सबमें एक ही जीवन है, हत्या मत करो, ईश्वर प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है : विनष्ट मत करो। किंतु अगले ही क्षण वे एक दूसरे को वस्तुतः, शाब्दिक रूप से या व्यवसाय में विनष्ट कर रहे होते हैं तो जीवन के एकत्व और पावनता की इस धारणा का उनके लिए कोई ज़्यादा मतलब है नहीं।

पाश्चात्य जगत में भी जीवन की असलियत को--दैनिक जीवन की क्रूरता, आक्रामकता, निर्मम प्रतिस्पर्धा को स्पष्ट अनुभव करते हुए हम एक प्रतीक को अर्थवान बना लेते हैं, और ये प्रतीक बहुत पवित्र माने जाते हैं जिन पर सारे धर्म आधारित हैं। अर्थात् धर्मशास्त्रियों, पुरोहितों, संतों ने अपने कुछ निजी किस्म के अनुभव किए होते हैं और ये लोग जीवन को कोई तात्पर्य दे देते हैं, और हम अपने अर्थहीन नित्यक्रम, हताशा, अकेलेपन के चलते उन अर्थों से आसक्ति बना लेते हैं और यदि हम इन सभी प्रतीकों, छवियों, विचारों और विश्वासों से छूट सकें जिनका निर्माण हम सदियों-सदियों से करते रहे हैं और जिन्हें हमने एक पवित्रभाव दे दिया है, यदि हम इन बाहर से आरोपित संस्कारों से वास्तव में मुक्त हो सकें, तब हम संभवतः स्वयं से यह पूछ सकते हैं कि क्या ऐसा कुछ है जो सत्य है, जो वस्तुतः पावन है, पवित्र है। क्योंकि यही तो है जिसे मनुष्य इस विश्कोभ, हताशा, अपराध-बोध तथा मृत्यु के बीच खोज रहा है। मनुष्य इसी अनुभूति को विविध रूपों में खोजता रहा है जो क्षणभंगुर से, समय के प्रवाह से परे हो। इस सुबह क्या हम कुछ समय इस चर्चा में लगा सकते हैं कि क्या ऐसा कुछ विद्यमान है?--किंतु वह नहीं जो आप चाहते हैं, ईश्वर नहीं, कोई अवधारणा, कोई प्रतीक नहीं। क्या आप इस सबको एक तरफ हटा कर तब खोज में उतर सकते हैं।

शब्द केवल संप्रेषण के माध्यम होते हैं, पर शब्द वस्तु नहीं हैं, और जब कोई शब्दों में उलझ जाता है तो उस प्रतीक, उन शब्दों, उन अवधारणाओं से स्वयं को छुड़ा पाना अति कठिन होता है। जिनसे अवबोध में वस्तुतः बाधा पड़ती है। यद्यपि शब्दों का प्रयोग तो करना ही पड़ता है, परंतु शब्द तथ्य नहीं होते। अतः यदि इस बारे में भी हम सजग, सावधान रह सकें कि शब्द तथ्य नहीं हैं, तब इस प्रश्न में हम बहुत गहरे पैठना प्रारंभ कर सकते हैं। अर्थात् मनुष्य ने अपने अकेलेपन और हताशा के चलते एक विचार को, हाथों से या मन से बनाई गई किसी छवि को पवित्रता प्रदान कर दी है। वह छवि ईसाई, हिंदू, बौद्ध तथा उसी प्रकार औरों के लिए असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण बन गई हैं और उन सबने उस छवि में एक पवित्रता का

भाव आरोपित कर दिया है। और क्या हम इस सबको एक तरफ हटा पाते हैं, शाब्दिक या सैद्धांतिक रूप से नहीं अपितु वस्तुतः इसे परे कर पाते हैं, इस तरह की गतिविधि की निरर्थकता को देख पाते हैं? तब हम पूछना आरंभ कर सकते हैं--किंतु उत्तर देने वाला कोई है नहीं, क्योंकि स्वयं से किये गए किसी भी आधारभूत प्रश्न का किसी के द्वारा उत्तर दिया ही नहीं जा सकता, और अपने ही द्वारा तो एकदम नहीं। पर हम यह कर सकते हैं कि प्रश्न रखें और उस प्रश्न को खदकने दें, खौलने दें--उस प्रश्न को गतिशील होने दें, और उस प्रश्न का अनुसरण अंत तक करने की सामर्थ्य हममें होनी चाहिए। हम इस सुबह यही पूछ रहे हैं कि क्या कुछ ऐसा है जो प्रतीक के, शब्द के पार है, कुछ ऐसा जो यथार्थ है, सत्य है, जो अपने आप में पूर्णतः पवित्र है।

लंदन] 30 सितम्बर 1967